वेदाञ्जलि, International Peer Reviewed Refereed Journal of Multidisciplinary Research
वर्ष-१०, अंक-२०, भाग-१, जुलाई-दिसम्बर, २०२३ | ISSN : 2349-364X / Impact Factor : 7.109

भारतीय संस्कृति की मूलभावना

अतुल कुमार मिश्र*

विश्व के इतिहासकारों/विद्वानों के अनवरत अनुसंधानों एवं परस्पर वैचारिक मन्थन ने यह नवनीत तथ्य सम्पूर्ण सभ्य संसार के सम्मुख भलीभाँति प्रकट कर दिया है कि संसार की संस्कृतियों में यदि कोई संस्कृति अपने आपको सबसे पुरातन तथा सार्वकालिक भारतीय संस्कृति है। संस्कृति शब्द प्राचीन ग्रन्थों सें उपलब्ध नहीं होता। यह शब्द पाश्चात्य देशों और उसकी भाषा के हमारे संसर्ग में आने के बाद उनके अनुकरण पर तैयार किया गया नया शब्द है। अनेक विद्वानों के विचारानुसार यह शब्द अँग्रेजी के कल्चर (Culture) शब्द के अनुवाद में प्रयुक्त होने लगा। परन्तु इसके अर्थ का विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह शब्द अपने-अपने देश के विचारों और व्यवहारों को प्रकट करता है। इस अर्थ में भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में भी आचार-विचार शब्द का प्रयोग बहुधा सर्वत्र मिलता है। निष्कर्ष यह कि भारतीय विचारों और आचरणों का समालोचन ही भारतीय संस्कृति का अध्ययन कहलायेगा।

भारतीय विचार और आचरण प्रारम्भ से ही कितने दृढ़ रहे हैं और इसकी संस्कृति सर्वदा से कितनी प्राणवान रही है इसका पता भी इसकी प्राचीनता से चल जाता है। प्राचीन होने के साथ ही साथ इस संस्कृति की दूसरी विशेषता है कि अनेक प्रबल आक्रमणों/वात्याचक्रों का संघर्ष करते हुए भी भारतीय संस्कृति अपने स्वरूप में व्यवस्थित है। संसार के इतिहास में अनेक संस्कृतियों ने जन्म लिया, उन्होंने अपने गौरवपूर्ण समय भी देखे, परन्तु वे अपने विरुद्ध आक्रमणों को सहन न कर सके, और काल-कवलित होकर इतिहास के पृष्ठों में अध्ययन के विषय बन गये। रोम देश की संस्कृति का किसी समय सारे विश्व पर प्रभाव था, यूनान की संस्कृति ने आज के अनेक देशों के विचारों को जन्म दिया। परन्तु आज उन संस्कृतियों का कहीं नाम निशान तक नहीं। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण संसार के इतिहास में मिलेंगे। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति जो कि समस्त संस्कृतियों से अति प्राचीन सिद्ध है, वह आज भी बहुत कुछ अपना स्वरूप रखे हुए हैं तथा भारतीय संस्कृति विश्व के समस्त उत्थान और पतनों को साक्षी बनकर देखती रही। साथ ही एक बात और ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारी संस्कृति, विचार, परम्परा विश्व के मार्ग प्रदर्शक मानी जाती है। इसका प्रमाण स्वयं भगवान् मनु देते हैं, वे कहते हैं कि

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः[1]॥

इस श्लोक के अर्थ पर विचार करने से यह दृष्टि विशद होती है कि भारतवर्ष में उत्पन्न होनेवाले ऋषि संसार के समस्त लोग अपने चरित्र एवं आचरण की सीख दे। यदि विचार किया जाए, तो आंग्लदेश की संस्कृति बहुत कुछ बाइबिल पढ़ने पर समझ में आ जाती है, मुस्लिम संस्कृति भी कुरान का अध्ययन करके कोई थोड़ा बहुत समझ ही लेगा। परन्तु भारतीय संस्कृति समझने में इस उपाय में भी सन्देह खड़ा हो जाता है। यदि ये कहें कि वेदों में जिसका प्रतिपादन है वही भारतीय संस्कृति है तो बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि वेदों को न मानने वालों का भारतीय संस्कृति में समावेश नहीं होता। कोई एक सर्वमान्य धर्म ग्रन्थ नहीं है जिसको आधार मानकर भारतीय संस्कृति को इदमित्थं भाव से समझ लिया जाए। धर्म-ग्रन्थों के ऐक्य के न रहने पर भी सैद्धांतिक दृष्टि से आचार और विचारों के संग्रह के माध्यम से आध्यात्मिकता के सिद्धान्त के आधार पर सर्वमान्यता सिद्ध होती है। आध्यात्मिक दृष्टि पर समस्त व्यवहारों की हेयता और उपादेयता का निर्धारण से समस्त भारतीय मतों का ऐक्य हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भारतीय संस्कृति का मूलभूत स्वरूप अध्यात्म प्रवणता है।

अध्यात्मवाद क्या है? कैसे उसकी उपादेयता है? वह भारतीय संस्कृति का मूल कैसे है? आज भी भारत को उसकी आवश्यकता है अथवा नहीं इत्यादि प्रश्नों का विचार ही भारतीय संस्कृति के समीप ले जाएगा। भारतीय विचारों में हमेशा से पंचभूतों से तैयार होनेवाले शरीर से अतिरिक्त एक आत्मा की सत्ता मान्य रही है। वह आत्मा अजर-अमर है शरीर तो बराबर बदलता रहता है। परन्तु आत्मा सदा एक स्वरूप ही बना रहता है। संसार की सभी वस्तुओं की अपेक्षा वही प्रधान है। वर्तमान शरीर के नष्ट होने पर आत्मा दूसरा शरीर ग्रहण करता है। यही भारतीय संस्कृति का पुनर्जन्मवाद है। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत आने-वाले बौद्ध, जैन, सिक्ख, आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, अमोडी (चम्पावत)

Scanned with OKEN Scanner

आदि जितने मत हैं वे सभी इस पुनर्जन्मवाद को अवश्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार आचार और विचार ये दो संस्कृति के पहलू हैं उनके विचारांश में भारतीयों का ऐक्य स्थापित है। शरीर के अतिरिक्त आत्मा है। जिस प्रकार शरीर के प्रति पालन, रक्षण आदि हमारे अनेक कर्तव्य हैं उसी प्रकार आत्मा के प्रति भी हमारे कुछ कर्तव्य हैं। इस प्रकार के अध्यात्म पर अवलम्बित व्यवहार ही आचारांश में भारतीयों की एकता को प्रतिष्ठित करते हैं, प्राचीन समय में भी भारतवर्ष की संस्कृति अध्यात्म दृष्टि प्रधान रही है। आत्मा को उन्नत बनाने वाले आचरणों को ही धर्म कहा जाता है।

धर्म का लक्षण करते हुए कणाद ने स्पष्ट कर दिया है कि 'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः[2]' अर्थात् जो क्रमशः उन्नत करता हुआ चरम उन्नति तक ले जाए वही धर्म है। वह उन्नति न केवल संसार की ही है, परन्तु उसके साथ ही साथ आत्मा की चरम उन्नति रूप निःश्रेयस् अर्थात् मोक्ष भी धर्म के द्वारा ही होता है। आजकल यन्त्र-युग है, नये-नये यन्त्रों का आविष्कार करना ही आज के युग में उन्नति की ओर अग्रसर होना है। किन्तु विचार कीजिये कि इन सब यन्त्रों को कौन बनाता है। मनुष्य की कल्पना शक्ति ही इन यन्त्रों को जन्म देनेवाला है। वह कल्पना शक्ति किस यन्त्र से प्रादुर्भूत होती है इसका ज्ञान भारतीय संस्कृति में मुख्य माना गया था। सब यन्त्रों को जन्म देने वाली कल्पना शक्ति के उद्भावक मन, बुद्धि और सबके चैतन्यप्रद आत्मा का विचार ही अध्यात्मवाद है। भारतीय ऋषि यही कहते हैं कि जो अपने आपको नहीं पहचान सका अथवा अपने आपका परिष्कार अथवा सुधार न कर सका वह अन्य वस्तुओं का निर्माता होने पर भी महत्वशाली नहीं कहा जा सकता। इसलिए अध्यात्मवाद को यहाँ की संस्कृति में प्रधानता दी गयी है।

कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि अध्यात्मवाद के अनुयायियों ने धर्म के आगे अर्थ और काम को गिरा दिया। वे केवल धर्म ही धर्म को पकड़े रहे और देश की अनेक प्रकार की उन्नति में बाधक सिद्ध हुए। परन्तु भारतीय संस्कृति के विचारकों को यह अच्छी तरह मालूम है कि हमारे यहाँ अर्थ और काम से विमुख होने का कहीं विधान नहीं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों हमारे यहाँ पुरुषार्थ माने गये हैं। पुरुषार्थ का अभिप्राय यह है कि पुरुषों के द्वारा चाहने योग्य हों। अथवा यह कह सकते है कि मनुष्य के चार लक्ष्य हैं। पुरुषैरर्थ्यते यह व्युत्पत्ति उपर्युक्त अर्थ को सिद्ध करती है। इनमें अर्थ और काम का भी समान रूप से समावेश है तब अर्थ और काम की उपेक्षा का आक्षेप कैसे माननीय हो सकता है। यह बात भी नहीं है कि भारत में कभी अर्थ काम की उन्नति हुई ही नहीं। धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र अर्थात् व्यवहारशास्त्र और कलाशास्त्र तीनों भारत में पूर्णतया उन्नत थे। इतिहास इसका साक्षी है कि सभी नीति के उपदेश यही सिखलाते हैं कि त्रिवर्ग की उन्नति करना चाहिये जिससे मोक्ष की प्राप्ति सुकर हो जाए। त्रिवर्ग से तात्पर्य धर्म, अर्थ और काम तीनों से है। प्राचीन समय में भारत की सम्पत्ति सभी देशों के लिए स्पृहणीय थी। काम अर्थात् व्यवहार तो भारत से ही अन्य देशों ने सीखा है। सुखोपभोग की सामग्रियाँ भारत में कितनी विपुल थीं इसका पता प्राचीन काव्यों-आख्यानों आदि के पढ़ने से बड़ी आसानी से लग जाता है।

यह सब होते हुए भी भारतीय सभ्यता में यह विशेषता अवश्य है कि यहाँ धर्म को सभी पुरुषार्थों में प्रधान स्थान दिया है। धर्म का आत्मा से सीधा सम्बन्ध है। उससे आत्मा बलवान होता है। जब कभी व्यवहार में धर्म के साथ अर्थ काम का संघर्ष उपस्थित होता है, जब कभी यह प्रश्न खड़ा होता है कि धर्म को अपनाएं, या अर्थ को, इस अवस्था में भारतीय सदैव धर्म का आश्रयण ही लेते है। यही शास्त्रकारों का भी उपदेश है कि 'परित्यजेद्यर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ[3]', अर्थात् धर्म से विरुद्ध अर्थ और काम ग्राह्य नहीं है। धर्म के साधक एवं विरुद्ध कौन कौन से विषय है, इसका सूक्ष्म से सूक्ष्म विवेचन धर्मशास्त्रकारों ने किया है। भगवान् मनु कहते हैं 'अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः[4]।' द्रव्योपार्जन और अपनी उन्नति का सम्पादन अवश्य ही मानव मात्र का कर्तव्य है, परन्तु वह द्रव्योपार्जन या आत्मोन्नति ऐसी हो जिससे किसी से द्रोह न हो। दूसरों को धक्का मारकर उपार्जन करना ठीक नहीं। प्रश्न होता है कि किसी भी अर्थोपार्जन की उन्नति में परद्रोह तो अवश्य होगा। मान लिया जाए कि किसी मनुष्य को कोई अच्छा पद मिला तो क्या उसका यह उपार्जन बिना द्रोह किए हो गया? नहीं, उसी के साथ जो दूसरे लोग उस पद के इच्छुक थे उनको हटाने के कारण द्रोह तो हो ही गया। तब अद्रोह से उपार्जन कैसे सम्भव हो सकता है। इसी सूक्ष्म बात को ध्यान में रखकर मनु भगवान् ने कहा है, कि 'अल्पद्रोहेण वा पुनः' अर्थात् यदि द्रोह अपरिहार्य

Scanned with OKEN Scanner

हो तो वह बहुत कम रूप में लिया जाए। जैसे पद प्राप्त होनेपर जो द्रोह औरों को होता है, यहां साक्षात् अपकार करने से नहीं अपितु दूसरों के द्वारा ग्रहण करने से हुआ है। इसलिये यह अल्पद्रोह है। कारण वहां द्रोह लक्ष्य नहीं था अपनी उन्नति ही लक्ष्य था, इस प्रकार का द्रोह उपार्जन में क्षम्य है। परन्तु साक्षात् द्रोह नहीं करना चाहिये। जैसे शिकायतों और आरोपों के द्वारा दूसरे को पदच्युत करवाकर फिर स्वयं उस स्थान को लेना। इस प्रकार का उपार्जन धर्म विरुद्ध है। यह नहीं होना चाहिये। इस प्रकार धार्मिक नेताओं ने सर्वदा हमें सचेत किया कि हम कभी प्रधान को अर्थात् धर्म को न भूले। धर्म का ही दूसरा नाम है कर्तव्य। कर्तव्य और धर्म में भेद नहीं। कर्तव्य-निष्ठा ही भारतीय संस्कृति की प्रधान वस्तु है। कर्तव्य में आलस्य प्रमाद आदि को स्थान नहीं है। इस प्रकार धर्म और उससे अविरुद्ध अर्थ और काम का आचरण करने से मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ अपने-आप सिद्ध हो जाता है। मोक्ष को ही यह संस्कृति परम पुरुषार्थ कहती है, वह मोक्ष क्या है ? आत्मा को स्वतंत्र बना देना ही मोक्ष है। कर्तव्य का आचरण करते-करते मन बुद्धि और शरीर पवित्र हो जाते हैं। इस प्रकार के पवित्र मन और बुद्धि में आत्मा की स्वतंत्र सत्ता प्रतीत होने लगती है। वह आत्मा हमें कहीं बाहर से लेने नहीं जाना पड़ेगा, वह तो सबके पास है। परन्तु मन और बुद्धि अपवित्र होने के कारण उसे ग्रहण नहीं कर पाती। जब कर्तव्याचरण द्वारा मन बुद्धि पवित्र हो जाते हैं तब आत्मा का दर्शन होना आसान हो जाता है। इसी को मोक्ष कहते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि यह संसार तो प्रश्नों और समस्याओं का जंगल है। यह कैसे पहचाना जाए कि अमुक कर्तव्य है और अमुक धर्म है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने गीता रहस्य ग्रन्थ में इस प्रकार के समस्त पाश्चात्य मतों को सामने रखकर उनकी आलोचना प्रस्तुत करके यह सिद्ध कर दिया है कि धर्म अधर्म या कर्तव्य अकर्तव्य का निर्णय भौतिक दृष्टि से कथमपि सम्भव नहीं। उसके निर्णय के लिये तो आध्यात्मिक दृष्टि को ही अपनाना होगा। इस नई परिभाषा पर उन्होंने अनेक दृष्टान्तों से दोष दिये हैं। मान लीजिये कि गर्मी में तृषार्त जनों की प्यास बुझाने के लिए किसी ने प्याऊ लगाई। लोग उसकी प्याऊ पर आते हैं और सुस्वादु शीतल जल पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं। उस प्याऊ पर जल पीने वालों की भीड़ देखकर सामने वाले दूकानदार बनिये ने भी एक प्याऊ खोल दी। वह पानी के साथ चना भी खिलाने लगा। बनिये का उद्देश्य लोगों को जलसे तृप्त करना नहीं है अपितु अपना व्यापार चमकाना है। ज्यादा भीड़ बढ़ने पर लोग उसकी दुकान पर बैठकर खरीददारी भी करते हैं। अब यदि पाश्चात्य दृष्टि से कर्तव्याकर्तव्य का या धर्माधर्म का विचार करें तो वह बनिया ही धर्मात्मा सिद्ध होता है अधिक लोगों का अधिक हित सम्पादन करता है। परन्तु विवेक दृष्टि कभी उसे धर्मात्मा नहीं कहेगी। क्योंकि उसका लोगों को लाभ पहुँचाने का नहीं। भारतीय दृष्टि में वही धर्मात्मा है जिसने पहिले प्याऊ खोली। क्योंकि वह निःस्वार्थ भावना से पिपासा निवृत्ति के लिए जल पिलाता है। उसके कार्य में किसी प्रकार की दुरभिसन्धि नहीं। इसलिये हमारी संस्कृति के अनुसार धर्म के सम्बन्ध में ऐसी बातें नहीं चल सकती। आध्यात्मिक दृष्टि से ही विचार होगा। अमुक कार्य के करने में करने-वाले का उद्देश्य क्या है? उसका परिणाम क्या है? यदि उद्देश्य और परिणाम खराब है तो वह काम भी अधर्म ही ठहरेगा। और उद्देश्य और परिणाम में खराबी न रहने से बुरे काम भी अच्छे हो जाएंगे किसी भी कार्य में कर्ता की नीयत जाने बिना धर्म का निर्णय नहीं हो सकता है। इसके लिये भी आध्यात्मिकता की ओर आना होगा। जब धर्म और कर्तव्य के निर्णय में आध्यात्मिकता की ही आवश्यकता हुई तब भारत की ओर ही सबकी दृष्टि केन्द्रित हो जाती है। भारत सर्वदा से आध्यात्मिक दृष्टि को सर्वोपरि मानता आया है।

आध्यात्मिकता का एक स्वरूप कर्तव्य निष्ठा भी है। वह कर्तव्य निष्ठा ही भारत की देन है। कर्तव्य-निष्ठा की शिक्षा गुरुओं द्वारा आश्रमों में दी जाती थी। वचनों में शक्ति भी इसी निष्ठा से उत्पन्न होती है। कौन सी वह शक्ति है जो पुत्र से पिता की आज्ञा का पालन करा देती है। शिष्य से गुरु की आज्ञा का पालन करा देती है। यह वह कर्तव्य-निष्ठा ही है। कर्तव्य निष्ठा का मतलब यह है कि किसी भी कार्य को इसलिये करना कि वह कर्तव्य है। इसलिये नहीं कि उसके करने से अच्छा फल हो या नहीं, पिता और गुरु की आज्ञा का पालन करना ही होगा। अँग्रेजी में इसे ड्यूटी (Duty) शब्द से कहा जाने लगा है। भारतीय चरित्रों में आप इस कर्तव्य के प्रति निष्ठा का दर्शन करेंगे।

सारांश यह है कि भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकता पर अवलम्बित है, और कर्म करने में कर्त्तव्यनिष्ठा को इसमें मुख्य स्थान दिया गया है। यदि आध्यात्मिकता न रहे तो समझ लेना होगा कि भारतीय संस्कृति का लोप हो चुका। अतः भारतीय संस्कृति के रक्षकों को आध्यात्मिकता की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये। वर्तमान युग में जो

Scanned with OKEN Scanner

एकमात्र पेट की चिन्ता ही संसार में सब कुछ बन गयी है, वह भारतीय संस्कृति की सर्वथा विघातक है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य केवल पेट भर लेना नहीं है, अपितु आत्मिक उन्नति ही जीवन का मुख्य फल है। और यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कर्त्तव्य-निष्ठा वर्णाश्रम व्यवस्था के आधार पर हो सकेगा।

सन्दर्भ :

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास- आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, बनारस – 1956
2. भारतीय संस्कृति, बाबू गुलाब राय, रवीन्द्र प्रकाशन, पाटन नगर, ग्वालियर 1975
3. भारतीय कला एवं संस्कृति, नितिन सिंघानिया, एम.सी. ग्रो हिल प्रकाशन, 2015
4. वैदिक-विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

---

1. मनुस्मृति 1.139
2. वैशेषिकसूत्र 1.1.2
3. मनुस्मृति 4.76
4. मनुस्मृति 4.2

Scanned with OKEN Scanner